08 स्कूल की पाठ्यपुस्तकें

रश्मि पालीवाल एवं सी.एन. सुब्रह्मण्यम

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं के प्रति जागरूक दृष्टि का अभाव, अनेक प्रकार की उस निरक्षरता का एक पहलू है जो हमें अपने चारों ओर दिखाई देती है। इसी से होड़ करती हुई दूसरी असमर्थता है, एक प्रकार की मानसिक 'दीवार' जो ऐसे लोगों के जीवन की वैधता को स्वीकार करने में रुकावट बन जाती है जो 'भिन्न' हैं – जो 'दूसरे' हैं। चाहे हमारी भूमिका सामाजिक कार्यकर्ता की हो या शासनाधिकारी, विशेषज्ञ, या कार्यक्रमों की निगरानी या पुनरीक्षण करने वाले परामर्शदाता की हो, हम सभी अपेक्षा करते हैं कि अन्तिम रूपान्तरण हमारे प्रयासों के परिणामस्वरूप ही होंगे। हम यह नहीं समझते कि ये प्रयास एक वृहद प्रक्रिया की कड़ियाँ मात्र होते हैं।

इस सन्दर्भ में इतिहासकार की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। इतिहासकार का काम, या जिम्मेदारी है सामाजिक प्रक्रियाओं का नजदीक से और ईमानदारी से इस तरह वर्णन करना कि उसमें दृष्टिकोण उठने वाले प्रश्नों के उत्तर देने का हो। इसलिए जरूरत 'अनुभववाद' और अमूर्त धारणाओं की अन्धभक्ति, दोनों से दूर हटकर ऐसे वर्णन की है जिसे सिद्धान्तों का सहयोग प्राप्त हो। सामाजिक प्रक्रियाओं के निकटता से किए गए मूल्यांकन में टिक पाने की ताकत होती है; यह जीवन को जिस तरह वह हमारे चारों ओर जिया जाता है, उसी तरह देखने के लिए दिमाग को प्रशिक्षित करता है। इस जिम्मेदारी को कार्य रूप में निभाना स्कूली बच्चों के लिए नई पाठ्यपुस्तकें विकसित करने के उस उपक्रम का सबसे रोमांचक पहलू था जिसका बीड़ा हम लोगों ने एकलव्य में उठाया। एकलव्य के सामाजिक विज्ञान समूह, जिसमें इतिहास, अर्थशास्त्र और भूगोल विषयों के अध्येता शामिल थे, ने तब चल रही पाठ्यपुस्तकों का पुनरीक्षण करने, सामान्य सामाजिक विज्ञान कक्षाओं के संचालन का अवलोकन करने, और शिक्षकों से इस विषय को पढ़ाने के उनके अनुभवों और समस्याओं के बारे में चर्चा करने से शुरुआत की। लगभग तीन साल की जमीनी तैयारी के बाद हमने मध्य प्रदेश सरकार से अपनी पाठ्यपुस्तकें नौ स्कूलों में कक्षा 6 से 8 तक औपचारिक तौर पर लागू करने की अनुमति प्राप्त की। यह 1986 में हुआ। तब से इन स्कूलों से प्रतिक्रिया मिलने के बाद इन पुस्तकों में संशोधनों के कई दौर हो चुके हैं। शिक्षक भी किताबों की विषयवस्तु, शिक्षण–पद्धतियाँ, विद्यार्थियों के मूल्यांकन आदि पर हुए प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भाग ले चुके हैं। किताबें खुली रखकर परीक्षा की एक व्यवस्था विकसित की गई है, और कार्यक्रमों के लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त प्रश्नपत्र बनाए जाते हैं; वर्तमान में हम सामाजिक अध्ययन के पढ़ाने और सीखने पर इस प्रकार के कार्यक्रम का प्रभाव आँकने के लिए तरीके विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं।

अवधारणाएँ निर्मित करना

अलग–अलग पाठ्यपुस्तकें इस्तेमाल करने वाले बच्चों के द्वारा हासिल की गई समझ के अन्तरों का पता लगाने के लिए हमने हमारी किताबें उपयोग करने वाले दो स्कूलों, और सामान्य किताबें उपयोग करने वाले दो स्कूलों में एक छोटा अध्ययन किया।

हमने दोनों समूहों के बच्चों को शिकारी मानव या आदिमानव पर आधारित एक से प्रश्नपत्र दिए। पारम्परिक व्यवस्था के अनुसार चलने वाले स्कूलों के अनेक बच्चों ने शिकारी मानवों के जीवन पर किसी न किसी प्रकार का अस्पष्ट सा मूल्यात्मक निर्णय दिया: 'बहुत बेकार', 'बहुत कठिन', 'असम्भव'। प्रश्नों को ऐसे शब्दों में रचा गया था जिनमें बच्चों को इस प्रकार की टिप्पणियाँ करने को नहीं कहा गया था। दूसरी ओर, हमारे कार्यक्रम का अनुसरण करने वाले स्कूलों के एक भी बच्चे ने मूल्यात्मक निर्णय नहीं दिया। इसके अतिरिक्त, वे उन लोगों के जीवन के बारे में कई और जानकारियाँ दे सके।

> “*इतिहासकार का काम, या जिम्मेदारी, है सामाजिक प्रक्रियाओं का नजदीक से और ईमानदारी से इस तरह वर्णन करना कि उसमें दृष्टिकोण उठने वाले प्रश्नों के उत्तर देने का हो। इसलिए जरूरत 'अनुभववाद' और अमूर्त धारणाओं की अन्धभक्ति, दोनों से दूर हटकर ऐसे वर्णन की है जिसे सिद्धान्तों का सहयोग प्राप्त हो। सामाजिक प्रक्रियाओं के निकटता से किए गए मूल्यांकन में टिक पाने की ताकत होती है; यह जीवन को जिस तरह वह हमारे चारों ओर जिया जाता है, उसी तरह देखने के लिए दिमाग को प्रशिक्षित करता है।*”

अन्य प्रश्नों, जैसे 'शिकारी मानव घरों में क्यों नहीं रहते थे' या 'बरतनों और मर्तबानों का उपयोग क्यों नहीं करते थे', के उत्तर भी इस अन्तर को दर्शाते हैं। सामान्य धारा के बच्चों के द्वारा दिया गया सबसे आम उत्तर था कि शिकारी मानवों को मकान, बरतन और मर्तबान बनाने का और उपयोग करने का ज्ञान नहीं था। शायद इतिहास के पूर्व–स्नातक विद्यार्थियों से भी ऐसे उत्तर मिलना कोई अनोखी बात न हो। परन्तु, हमारे कार्यक्रम में शामिल बहुत थोड़े से

बच्चों ने ऐसे सरलीकृत उत्तर दिए। लगभग दो–तिहाई बच्चों ने पुरातत्वीय खोजों में बरतनों और मर्तबानों के अभाव का कारण भोजन व पानी के संसाधनों के समाप्त हो जाने को बताया। अन्य ने कहा कि सम्भवतः ये लोग जंगलों से अपना भोजन इकट्ठा करते हों, और उसे सीधा वैसे ही खा जाते हों जिससे संग्रह करके रखने के लिए कुछ बचता ही न हो। या वे घुमन्तू लोग थे जो अपने साथ बड़े बरतन आदि नहीं रख सकते थे। ये उत्तर इस समस्या की ज्यादा गहरी समझ दर्शाते थे।

अतः हमें मिलने वाले उत्तर कुछ इस प्रकार के प्रतीत होते हैं: चर्चित वस्तु की अधिक समृद्ध और सजीव तस्वीर, सतही व्याख्याओं से आगे बढ़कर अधिक जानकारीपूर्ण व्याख्याओं तक पहुँचने की योग्यता, सामाजिक क्रियाकलापों में अन्तर्सम्बन्ध देखने की शुरुआत और अन्त में 'दूसरे' लोगों को कम मूल्यात्मक और आलोचनात्मक तरीकों से देखना। एकलव्य के प्रयास के अन्तर्गत, बच्चों के साथ काम करने के इन वर्षों में इतिहास की नई पाठ्यपुस्तकों के प्रभाव के कुछ दूसरे आयाम भी सामने आए हैं। बच्चों के साथ काम करने के इन अनुभवों में से कुछ हम यहाँ बाँटना चाहेंगे।

> *बच्चों पर पड़ने वाले कुछ प्रभाव: चर्चित वस्तु की अधिक समृद्ध और सजीव तस्वीर, सतही व्याख्याओं से आगे बढ़कर अधिक जानकारीपूर्ण व्याख्याओं तक पहुँचने की योग्यता, सामाजिक क्रियाकलापों में अन्तर्सम्बन्ध देखने की शुरुआत और अन्त में 'दूसरे' लोगों को कम मूल्यात्मक और आलोचनात्मक तरीकों से देखना।*

पाठ्यपुस्तक की भाषा बनाम बच्चों की भाषा

हमें हमारे काम के दौरान एक गाँव के स्कूल में कक्षा 8 के बच्चों के साथ मुगल बादशाह अकबर की चर्चा की याद आती है। उसमें भाग लेने का उनका जोश चकित करने वाला था। वे एक कथानक रचने, उसका बारीकी से विश्लेषण करने, और राजपूतों, तूरानियों और ईरानियों से अकबर के सम्बन्ध के बारे में हमारी ओर से पूछे जा रहे हर सवाल के ऊपर सोचने और प्रतिक्रिया देने में उत्साह से भरे हुए थे।

अकबर ने राजपूताना के विभिन्न राज्य जीतने के बाद फिर क्यों उन्हें उनके शासकों को लौटा दिया था? ताकि जरूरत के समय राजपूत उसकी मदद कर सकें', और फिर, ताकि राजपूतों के राज्य अकबर के राज्य के नाम में आ जाएँ (उसके साम्राज्य में गिने जाएँ)'। तूरानी क्यों नाखुश थे? यहाँ परिस्थिति की जटिलता को समझना ज्यादा कठिन था: 'क्योंकि वे अपने पदों से वंचित कर दिए गए'। 'नहीं', हमने कहा, और उन्होंने उत्तर दिया, 'क्योंकि वे महत्वपूर्ण पदों से हटा दिए गए जो राजपूतों को दे दिए गए'। हमने उन्हें बताया कि यह भी सच नहीं था, और फिर विद्यार्थियों को सजीव रूप से स्थिति को महसूस कराने के लिए हमने उनके साथ एक स्वाँग रचा। हमें गहरी रुचि और एकाग्रचित्त से देखते हुए उन्होंने सिर हिलाकर समझने का इशारा किया, लगभग यह संकेत देते हुए कि हम आगे न समझाएँ, ताकि वे वापस उत्तर देने की भूमिका निभा सकें, और कहा 'हाँ, मतलब तूरानी अमीरों को लगा कि उनकी पूछ नहीं रही'। यहाँ हमें बच्चों के दिमाग में बन रही अवधारणा को व्यक्त करने के लिए उनका चुटीली उक्तियाँ बनाने और मुहावरे इस्तेमाल करने का प्रयास दिखाई देता है।

एक और घटना याद आती है। यह कक्षा 7 के स्तर पर हुई। हमने एक बहुत चुपचाप रहने वाले लड़के से एक अध्याय में दी गई तस्वीरों पर बात की। ये तस्वीरें प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत में उभरते हुए राजवंशों से सम्बन्धित थीं। इन तीन तस्वीरों में से एक में घोड़ों पर बैठे हुए किसी शक्तिशाली परिवार के दो पुरुषों को एक ब्राह्मण से बात करते हुए दिखाया गया था, दूसरी में राज्याभिषेक समारोह का दृश्य था जिसमें एक ब्राह्मण समारोह की विधियों में मदद कर रहा था, और तीसरी में एक राजा एक ब्राह्मण को ताम्रपत्र भेंट कर रहा था।

'घोड़ों पर बैठे हुए दोनों आदमी नाराज दिखते हैं...क्योंकि...हो सकता है कि दूसरे गरीब लोग उन्हें राजाओं की तरह स्वीकार न कर रहे हों...क्योंकि शायद उनको पता नहीं कि ये लोग कौन सी जात के हैं...'। 'इस तस्वीर में वो पण्डित से कह रहा है कि मेरे को भरी सभा में मुकुट पहना दो...मैं राजा बन जाऊँ,...वो खुद मुकुट पहन लेगा तो जो कोई उसकी सभा होगी वो मानेगी नहीं कि यह राजा है, सब कोई पण्डित की बात मानते हैं'। 'अब राजा दान दे रहा है...क्योंकि ब्राह्मण से कहा था, सो उसने उसका काम कर दिया'।

तस्वीरों पर प्रतिक्रिया करते हुए बच्चे ने जो कथानक सुनाया वह उस पाठ से अलग था जो हमने शोधकर्ताओं और इतिहासकारों की सहायता से लिखा था। उससे बात करते हुए हम सोच में पड़ गए कि शायद तेरह साल का यह ग्रामीण लड़का हमारे जैसे लोगों की अपेक्षा वंश परम्परा, शक्ति और सत्ता की धार्मिक वैधता के सन्दर्भ से कहीं ज्यादा निकट था। यह बात शायद उन उत्तरों की प्रति के मामले में भी कही जा सकती है जो अकबर के काल में खेमेबाजी की राजनीति और ताकत के बारे में पूछे गए सवालों के जवाब में मिले थे।

हमारे द्वारा विकसित की गई नई पाठ्यपुस्तकों पर बच्चों की प्रतिक्रियाओं को हमें किस तरह समझना था? ऐसा लगता है कि जब ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को मूर्त रूप दे दिया जाता है तो हमेशा एक प्रतिध्वनि निर्मित हो जाती है, कोई तार झंकृत हो उठता है, और दूसरे लोगों तथा दूसरे कालों से एक भावनात्मक जुड़ाव पैदा हो जाता है। बच्चे अपने अनुभवों और अपनी भाषा के माध्यम से उस इतिहास को आत्मसात और अभिव्यक्त करने लगते हैं जिसे वे पढ़ रहे हैं।

जब हम इतिहास की पाठ्यपुस्तकों पर छाई हुई सघनता, अमूर्तीकरण और निरर्थक अनुभववाद को काटकर अलग कर देते हैं, और जब बच्चे किताबों में अपने परिचित मुद्दों को देख पाते हैं तब वे उनका सम्बन्ध अपने जीवन और अपने अनुभवों से जोड़ पाते हैं। वर्णन करने में उनका अपनी शब्दावली और पदावली में चले जाना उस भावनात्मक जुड़ाव का द्योतक है जो ये बच्चे विषय के साथ महूसस करते हैं। इसके विपरीत, पारम्परिक पुस्तकें केवल पाठ्यपुस्तकीय भाषा के दोहराव की इजाजत देती हैं जिसके लिए बस तारीखों और घटनाओं को याद कर लेने की ही जरूरत होती है।

बच्चे, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, श्रम प्रक्रियाओं से जुड़े रहते हैं, और उन्हें अपने आसपास की राजनैतिक वास्तविकता का गहरा बोध होता है। इसलिए सामाजिक मुद्दों का कोई भी सतही या अमूर्त विवरण, चाहे वह ऐतिहासिक हो या तात्कालिक, उनकी दिलचस्पी को बुझा देता है। परन्तु, सभी बच्चे विभिन्न सन्दर्भों के प्रति एक ही तरह से प्रतिक्रिया नहीं करते। उदाहरण के लिए, हमने देखा है कि वे बच्चे जिन्हें श्रम के रूपों का और मेहनताना दिए जाने के तरीकों का अनुभव होता है, ऐसी बातों के प्रति अधिक सुविधा–सम्पन्न बच्चों की तुलना में ज़्यादा पैनी समझ दर्शाते हैं।

बच्चों की इस जरूरत को देखते हुए हमारे लिए सामाजिक–ऐतिहासिक स्थितियों में ज्यादा गहराई से जाने की और उनमें मौजूद बदलते हुए टकरावों और संकटों की पड़ताल करने की आवश्यकता है। इसी जरूरत को ध्यान में रखते हुए हमने अपनी किताबों में कई सम्बन्धों की जाँच–पड़ताल करने की कोशिश की जैसे : मध्यकालीन ब्रम्हदेय में एक साधारण आर्य जनजातीय व्यक्ति और राजन्यगण, पड़ैया श्रमिक, वेल्लला रैयतों और ब्राह्मण जमींदारों के बीच; महाराजाधिराज और सामन्तों के बीच; या अँग्रेजों के अधीन भारत में आदिवासी, वनरक्षक और साहूकार के बीच।

विभिन्न श्रेणियों के लोगों के अनुभवों का पाठ्यपुस्तकों में समावेश करने का मतलब, जानने के प्रचलित तरीकों में आमूल परिवर्तन करना था। यह हमारे सामाजिक अस्तित्व में मौजूद विविधताओं और संघर्षों पर जोर देता था, जबकि प्रमुख वर्ग का हित संघर्षरहित छवि प्रस्तुत करने से पुष्ट होता है।

पारम्परिक पुस्तकों में शिक्षण

इतिहास की पारम्परिक स्कूली किताबों में, लगभग सौ पेजों में, सब कुछ कहने की मजबूरी पाठ्यपुस्तक को याद रखी जाने वाली बातों का एक संकलन मात्र बना देती है। इसमें एक छिपी हुई मान्यता रहती है कि बच्चे बातों को गहराई में न तो समझ सकते हैं और न ही उन्हें इसकी जरूरत होती है, उनके लिए तो जो कुछ हुआ उस सबके बारे में केवल थोड़ी बहुत चुनी गईं महत्वपूर्ण बातें जानना आवश्यक है।

“*विभिन्न श्रेणियों के लोगों के अनुभवों को पाठ्यपुस्तकों में समावेश करने का मतलब, जानने के प्रचलित तरीकों में आमूल परिवर्तन करना था। यह हमारे सामाजिक अस्तित्व में मौजूद विविधताओं और संघर्षों पर जोर देता था, जबकि प्रमुख वर्ग का हित संघर्षरहित छवि प्रस्तुत करने से पुष्ट होता है।*”

एनसीईआरटी की 1980 के दशक की पुस्तकें इस बुनियादी मान्यता के प्रति निष्ठावान बनी रहीं, यद्यपि वे कुछ दृष्टियों से पहले की किताबों से काफी बेहतर थीं। उन्होंने क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक पक्षपातपूर्ण बातों को निकाल देने का ध्यान रखा था, और इतिहास की कुछ प्रमुख धाराओं और अवधारणाओं पर चर्चा करने का कुछ प्रयास भी किया था। घटनाओं की व्याख्या और कारणों पर भी पहले से ज्यादा जोर दिया गया था। परन्तु यह प्रयास अधूरा ही बना रहा और इस पर जानकारी का एक 'सन्तुलित' संकलन प्रदान करने की प्रबल मजबूरी के चलते भारी बन्दिशें थीं।

यदि इतिहास के शिक्षण को बच्चों के लिए प्रासंगिक बनाना है तो कई शैक्षणिक चिन्ताओं पर काम किए जाने की जरूरत है (जो अकादमिक इतिहासकार के माने गए कर्तव्य से आगे जाने की माँग करता है)। यहाँ जिम्मेदारी ध्यान को इतिहास लेखन की राजनीति पर केन्द्रित करने की नहीं है – यद्यपि यह भी महत्वहीन नहीं है – बल्कि इस विषय का अपने आप में जो चरित्र है उस पर, अर्थात ऐतिहासिक ढंग से विचार करने के प्रमुख दृष्टिकोणों और तरीकों पर केन्द्रित करने की है। इसे निभाने का मुख्य तरीका यह देखना सीखना है कि हर चीज परिवर्तनशील है क्योंकि वह समय और स्थान के साथ बदलती है, कि हर चीज का विवरण एक विशेष

काल और क्षेत्र से जुड़ा रहता है, और इस विशेषता और परिवर्तन की व्याख्या सबसे पहले करना जरूरी है। इसके बाद निर्धारित स्थान और काल की सीमाओं में सभी क्रियाकलापों की परस्पर अन्तर्सम्बन्धित प्रकृति को पहचानना भी इसमें शामिल होगा।

किसी ऐतिहासिक स्थिति का अनोखापन उसकी अन्य स्थितियों से तुलना के माध्यम से स्थापित करना जरूरी है। पर यह तुलनात्मक पद्धति हमारी पाठ्यपुस्तकों में बिरले ही इस्तेमाल की जाती है। विभिन्न ऐतिहासिक कालों में भेद दर्शाने के लिए कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं होता। उस समय की एनसीईआरटी की पुस्तकों में यदा–कदा ऐसे अन्तरों का उल्लेख होता था, पर वे भेद बिरले ही मूलभूत और गुणात्मक प्रकृति के होते थे। जिस ढंग से उनकी चर्चा की जाती थी उससे केवल मात्रात्मक अन्तर का आभास होता था। उदाहरण के लिए, यह कहा गया कि मौर्यकाल में राजा का नियंत्रण/शक्ति राजपूत काल से अधिक थी। पर इन दोनों सन्दर्भों में राजा का अपना मातहतों से सम्बन्ध बुनियादी रूप से भिन्न था, और यह बात कभी भी स्पष्ट नहीं की गई। इसके लिए राजसेवा में भर्ती और वेतन देने के तरीके, जवाबदेही की व्यवस्था और इस सबका समाज के अन्य पहलुओं पर पड़ने वाला प्रभाव, इन बातों की बहुआयामी पड़ताल की जाना थी।

> *अब समय आ गया है कि ऐसे निष्प्राण, वर्गीकृत प्रारूप त्याग दिए जाएँ और सामाजिक संरचनाओं की ऐसी सजीव तस्वीरें विकसित की जाएँ जिनमें उत्पादक गतिविधियाँ, सामाजिक सम्बन्ध, राजनीतिक संस्थाएँ, विचारधारा और संस्कृति को सक्रिय रूप से एक–दूसरे को निर्धारित और प्रभावित करते हुए देखा जाए।*

यहाँ तक कि मूलभूत रूपान्तरों, जैसे कि नगरीय क्रान्ति, राज्य समाजों का उद्भव, या चरवाहा जीवनशैली से कृषि की ओर संक्रमण का भी उल्लेख भर ही किया गया, उसमें भी इन परिवर्तनों की कोई व्याख्या नहीं की गई। इसके परिणामस्वरूप, बच्चे को निरन्तर विभिन्न कालों और क्षेत्रों में अन्तर और समानताएँ खोजने, और उनकी व्याख्या करने और उन्हें समझने में समर्थ बनाने के लिए कोई प्रशिक्षण नहीं मिलता।

विभिन्न ऐतिहासिक कालों के अन्तरों को सामने लाने के लिए अध्यायों को इस तरह व्यवस्थित करना जरूरी है कि उनकी तुलना की जा सके। पर, न केवल इसका कोई प्रयास नहीं किया गया, बल्कि पाठ्यपुस्तकों ने जानकारी का सन्तुलित संग्रह देने की कोशिश में समाज के एक पक्ष का दूसरे से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास भी नहीं किया। राज्यतंत्र, अर्थव्यवस्था, समाज, धर्म, कला और संस्कृति पर केन्द्रित खण्ड एकदम अलग–थलग थे, किसी का दूसरे खण्डों से कोई नाता नहीं था।

अब समय आ गया है कि ऐसे निष्प्राण, वर्गीकृत प्रारूप त्याग दिए जाएँ और सामाजिक संरचनाओं की ऐसी सजीव तस्वीरें विकसित की जाएँ जिनमें उत्पादक गतिविधियाँ, सामाजिक सम्बन्ध, राजनीतिक संस्थाएँ, विचारधारा और संस्कृति को सक्रिय रूप से एक दूसरे को निर्धारित और प्रभावित करते हुए देखा जाए।

विकल्प की रूपरेखा बनाना

इस प्रसंग में असिन दासगुप्ता के सूरत के व्यापारियों का वर्णन करने के ढंग को याद करना जरूरी है जिसमें पढ़ने वाले को न केवल व्यापारियों के जीवन और काम का बल्कि समूची मुगल राजनीतिक व्यवस्था, उसकी कार्यशैली और उसके पतन का सजीव चित्र मिलता है। चित्रात्मक विवरण न तो उद्देश्यहीन हैं और न ही अनुभववादी। उनका ध्यान मुख्य रूप से समुद्रतटीय शहर के रोजमर्रा के जीवन की उथल–पुथल दिखाने के माध्यम से उसके पतन के कारणों की व्याख्या करने पर केन्द्रित रहता है।

इस विधि को स्कूल की पाठ्यपुस्तकों में भी बखूबी इस्तेमाल किया जा सकता है, और इस तरह अमूर्त और अबूझ आख्यानों से, और रटकर सीखी जाने वाली बहुत सी 'शब्दावली' के अनावश्यक प्रयोग से भी बचा जा सकता है। किसी समस्या/विषयप्रसंग पर केन्द्रित पाठ्यपुस्तकें लिखने में किसी जानकारी को शामिल करने या छोड़ने के लिए उचित मानदण्ड तय करना सम्भव होता है। बिना सोचे समझे ऐसी हर जानकारी, जो आमतौर पर ज्ञात है या किसी के द्वारा बहुत महत्वपूर्ण मानकर चुनी गई है, को शामिल करने के बजाय ऐसे मानदण्ड अधिक अर्थपूर्ण होंगे।

हमें सम्पूर्ण इतिहास की अवधारणा और डी.डी. कोसाम्बी की पद्धतियों से परिचित होने के कारण बहुत मदद मिली। कोसाम्बी ने सफलतापूर्वक अन्य विषयों की कार्यप्रणालियों का समावेश करते हुए इतिहास लिखा। इससे हमें भी अहसास हुआ कि समाज की हमारी अपनी समझ को विखण्डित किए बिना भी उसमें विभिन्न विषयों के विशेष दृष्टिकोणों को समायोजित करना सम्भव है। ऐसे उदाहरणों के प्रकाश में ही हम समेकित पाठ्यपुस्तक लिखने के कठिन सवाल का समाधान करने में समर्थ हो सके।

शेष पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार करने में हमें बच्चों के साथ काम करने में मदद मिली। हमने सीखा कि अपने स्वयं के परिवेश के बारे

में तथ्यों का सिर्फ अवलोकन करना और उन्हें दर्ज करना बेमानी हो सकता है। यह तब तक बच्चों की समझ में कोई खास योगदान नहीं देता जब तक परिवेश से परे जाकर बातों की पूरी व्याख्या न की जाए। बच्चों को अपने परिवेश का बहुत नजदीकी ज्ञान होता है। लेकिन उसे बेहतर ढंग से समझने के लिए उन्हें विविध प्रकार की स्थितियों की जानकारी होना जरूरी है। अपनी स्थिति की जानकारी का अन्य, समान तथा असमान, स्थितियों के अन्वेषण के लिए उपयोग करने का अभ्यास, सिर्फ परिचित बातों को दोहराने की अपेक्षा अधिक रोचक लगता है।

इसके साथ ही हमने पाया कि मिडिल स्कूलों के बच्चों में अमूर्त श्रेणियों के साथ काम करने की योग्यता नहीं थी। वे मूर्त स्थिति से जुड़ी विचार प्रक्रिया के साथ अधिक सहज थे। इसके अलावा, स्रोतों और धारणाओं में समीक्षात्मक और व्याख्यात्मक ढंग से बहुत गहराई में जाने के लिए भी उनकी तैयारी नहीं थी।

ऐसा लगा कि उन्हें विविध प्रकार के लोगों के वास्तविक जीवन–अनुभवों की बहुत व्यापक शृंखला से परिचित होने की जरूरत थी। लोगों की विविधता जितनी ज्यादा हो – पास के और दूर के, अतीत के और वर्तमान सन्दर्भ से जुड़े, धनी और निर्धन, शासक और शासित इत्यादि – वह जितनी जटिल हो उतनी ही बेहतर विद्यार्थियों की समझ होगी। विभिन्न मानवीय परिस्थितियों और परेशानियों को जानना, उनकी चर्चा करना और उनकी आपस में तुलना करना, ये सब मिलकर ऐसा आधार बनाते प्रतीत हुए जिस पर बच्चे मुद्दों को समीक्षात्मक ढंग से देखने के लिए निर्भर कर सकते थे, और इस तरह समाज के बारे में एक खुले दिमाग वाला परिपक्व दृष्टिकोण निर्मित कर सकते थे।

आज जब हम अधिकांश बच्चों के लिए अपनी किताबों की प्रभावशीलता का मूल्यांकन करते हैं तो हमें उस सबका भी अहसास होता है जो अभी किया जाना बाकी है। हमने बच्चों के साथ अपने अनुभवों से सीखा है कि बहुत–सी गैर पाठ्यपुस्तकीय गतिविधियाँ भी जरूरी हैं, जैसे मौखिक आख्यान, चित्र बनाना, मिट्टी के नमूने बनाना आदि। उन्हें वे जो लिखते हैं, उस पर अधिक प्रतिक्रियाओं की, पाठ्यपुस्तकों के ढाँचे से अधिक नजदीक परिचय की, पढ़ने और तैयारी करने के लिए अधिक समय की, अध्यापकों द्वारा अधिक ध्यानपूर्वक की गई चर्चाओं और व्याख्याओं की, और, जो अतिमहत्वपूर्ण है, पाठों के दौरान अपने अनुभवों के बारे में बात करने के लिए कहीं अधिक सुविधा और अवसर की जरूरत है।

जब हम समस्या–आधारित और मूर्त सन्दर्भों से जुड़ी पाठ्यपुस्तकों के प्रति बच्चों की सकारात्मक प्रतिक्रिया पर, और उनके अपने मुहावरे और अभिव्यक्ति के उनके भीतर से निकलने पर विचार करते हैं तो हमें जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि वे लोग जो वास्तविक जीवन के ज्यादा निकट हैं, इतिहास की पुस्तकों में चर्चित प्रक्रियाओं की उससे ज्यादा आसानी से व्याख्या करने में सहायक हो सकते हैं जितनी हमने की या करते हैं, और यह भी कि उनके दृष्टिकोण इतिहासकार तथा समाजविज्ञानी की सत्य की खोज को सुगम बना सकते हैं।

टिप्पणी

इसे लिखे जाने के बाद बहुत कुछ घट चुका है। एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकें दो बार नए सिरे से फिर लिखी जा चुकी हैं – एक बार एनसीएफ 2000 के बाद और फिर एनसीएफ 2005 के बाद। जहाँ बहुत ऐसी शैक्षणिक चिन्ताएँ जिनके साथ एकलव्य ने संघर्ष किया अब अधिकाधिक स्वीकार की जाने लगी हैं और विभिन्न सीमाओं तक उनके समाधान का प्रयास भी हुआ है। वहीं अकादमिक क्षेत्र और शिक्षण से सम्बन्धित नए मुद्दों पर बहस और काम जारी है। इसी बीच, मध्य प्रदेश के नौ शासकीय स्कूलों में एकलव्य का प्रायोगिक कार्यक्रम 2002 में समाप्त हो गया। यह लेख मूल रूप से इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ ऐडवान्स्ड स्टडीज़, शिमला द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'समर हिल' में 1998 में प्रकाशित हुआ था। इसका वर्तमान स्वरूप मूल लेख का रूपान्तर है।

सी. एन. सुब्रह्मण्यम *एकलव्य के निदेशक हैं। उनकी पृष्ठभूमि इतिहास की है। वे 1984 से एकलव्य में सामाजिक विज्ञानों के नए पाठ्यक्रम विकसित करने पर काम कर रहे हैं। एकलव्य में उनके कार्य के अन्य क्षेत्रों में प्राथमिक स्कूलों में भाषा और गणित का शिक्षण शामिल है। उनसे इस director.eklavya@gmail.com ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*

रश्मि पालीवाल *की पृष्ठभूमि इतिहास की है। वे 1983 से एकलव्य के साथ सामाजिक विज्ञानों के नए पाठ्यक्रम विकसित करने का काम कर रही हैं। उन्होंने पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें विकसित करने में अनेक शासकीय और अशासकीय संस्थाओं के साथ काम किया है। इसके अलावा उन्होंने सामाजिक विज्ञान शिक्षण और पाठ्यक्रम विकास पर बहुत कुछ लिखा है। वर्तमान में वे कार्यक्षेत्र–आधारित ऐसे संसाधन केन्द्रों के विकास में संलग्न हैं जिनका प्राथमिक शिक्षा पर विशेष जोर है। उनसे इस subburashmi@yahoo.com ईमेल पते पर सम्पर्क किया जा सकता है।*